समकालीन हिन्दी उपन्यासों में पूंजीवाद का स्वरूप

***डॉ. नीतू शर्मा**

हिन्दी साहित्य के इतिहास में उपन्यास एवं कहानी का प्रादुर्भाव उन्नीसवीं शताब्दी की अभूतपूर्व घटना है। उन्नीसवीं शताब्दी का भारतीय सांस्कृतिक नव जागरण भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के इतिहास में पुनरूत्थानकाल के नाम से जाना जाता है, क्योंकि इसी के बीच भारतवासियों के जीवन में एक आमूल परिवर्तन उपस्थित हुआ। इसका प्रभाव न केवल धार्मिक सुधार आन्दोलन तक ही सीमित रहा, बल्कि व्यापक सांस्कृतिक धरातल पर सामाजिक तथा राजनैतिक रंगमंच भी बहुत कुछ बदल गया। भले ही हम पश्चिमी भाषा तथा साहित्य के सम्पर्क से अथवा विदेशी प्रभाव में आन्दोलित हुए हो, लेकिन हमने अपनी संस्कृति के विकास का मार्ग इसके माध्यम से निश्चय ही प्रशस्त किया है। इन परिवर्तनों का भारतीय जीवन तथा समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा। साहित्य तथा कला के क्षेत्र में भी परिर्वतन हुआ। कला जो अब तक अमूर्त जगत की वायवी कल्पना मात्र थी, अब ठोस जमीन पर उतर कर मानव को अपना विषय बनाने को बाध्य हुई। कला तथा साहित्य में मानव जीवन की प्रतिष्ठा एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

आधुनिक नवचेतना के परिणामस्वरूप रचनाकार सामान्यतः रूढ़ि परम्पराओं, अन्धविश्वासों का विरोध करने लगे। प्रयोगशीलता के प्रति आकर्षण, पुराचीन विधियों, मूल्यों के प्रति संदेह और नकार, नवीनता की खोज, भावुकता का परित्याग, वैज्ञानिक प्रणाली में आस्था तथा बुद्धिवाद को सर्वोपरि महत्त्व देने लगे।

इस दृष्टि से हिन्दी उपन्यास साहित्य में आधुनिक बोध या सामयिक बोध की प्रखर पहचान देने वाली रचनाएँ प्रेमचन्द की ही मानी जा सकती है। प्रेमचन्द ने ही हिन्दी उपन्यास साहित्य को एक नयी दिशा प्रदान की। ''ऐसी अनिश्चितता की अवस्था में प्रेमचन्द ने मार्ग प्रशस्त किया। एक कुशल कलाकार की भाँति उन्होंने समस्त झाँड़–झंखाड़ों को काँट–छाँटकर उपन्यास के लिए सुन्दर राजमार्ग तैयार कर दिया।''[1]

प्रेमचन्द का रचनाकाल भारतीय इतिहास का वह महत्त्वपूर्ण काल था जब भारत में सामन्तवाद का स्थान पूँजीवाद ले रहा था । महाजनी सभ्यता का उदय हो चुका था भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन चरम उत्कर्ष पर था और साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने लगीं थी। विश्व की प्रथम समाजवादी क्रान्ति का प्रभाव राजनीति पर ही नहीं साहित्य एवं संस्कृति पर भी व्यापक रूप से पड़ रहा था। जनता में जागृति की एक अभूतपूर्व लहर दौड़ रही थी। भारत की समूची जनता स्वाधीनता के लिए समर यात्रा पर निकल पड़ी थी। जैसे–जैसे भारत की स्वतन्त्रता का वक्त नजदीक आता गया। नव उद्योगपति एवं पूँजीपति वर्ग काँग्रेस पर हावी होता गया। चूँकि राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान सर्वाधिक सक्रिय पार्टी काँग्रेस ही थी, इसलिए इसका व्यक्तित्व भारतीय जनता की नजरों में महान त्यागी व देशभक्त बन चुका था, इसका परिणाम यह हुआ कि आजादी के बाद काँग्रेस को लोकतांत्रिक पद्धति के माध्यम से सत्ता हस्तगत करने में अधिक संघर्ष नहीं करना पड़ा और देश की सत्ता कॉग्रेस के माध्यम से पूँजीपतियों के हाथों में पहुँच गयी।

''इस तरह सत्ता और अर्थ एक–दूसरे के स्वार्थ के पूरक हो गये, सत्ता प्राप्त व्यक्ति स्वयं को एक निरंकुश शासक से कम नहीं समझते । सरकार की नीतियों को पूँजीपति प्रभावित करने लगा और सत्ता उसकी पीठ सहलाने लगा।''[2]

समकालीन उपन्यास साहित्य का आरंभ 1960 से ही स्वीकार किया जाता है। समकालीन मानसिकता को उस मोहभंग से सम्बद्ध कर दिया जाता है जो स्वतंत्र भारत पर चीन के आक्रमण के बाद उपजा था। यह चीनी आक्रमण सही अर्थों में बहुत बड़ा परिवर्तन बिन्दु सिद्ध होता हैं इस युद्ध का परिमाण केवल अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों तक ही सीमित नहीं,

अपितु भारतीय समाज जीवन की रीढ़ को उसने बुरी तरह ध्वंस कर दिया था। इस संकट की स्थिति से उभरते कि सन् 1965 में भारत एवं पाकिस्तान के बीच दूसरे युद्ध की लपटों ने बड़वानल की तरह झुलस दिया। ''भारत के साथ पाकिस्तान के विरोध ने नया मोड़ लिया और उसकी आन्तरिक विस्फोट का दुष्परिणाम भारत को भुगतना पड़ा।''[3] अन्ततः सातवीं शताब्दी के अंत में यही विस्फोटक स्थिति ने पुनः भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध को भड़का दिया। इस तरह सन् 1962, 1965 और 1971 में हुए युद्धों के परिणामस्वरूप देश संकट की स्थितियों से गुजरने लगा। इन परिस्थितियों में तत्कालीन रचनाकार विशिष्ट मुद्रा अख्तियार कर चुका था। इस कारण 1960 के बाद के साहित्य को नये सिरे से बुनने का कार्य रचनाकार करने लगे। इसी को समकालीन साहित्य के नाम से अभिहित किया गया। नवीन सामाजिक, सांस्कृतिक मूल्यों का निर्माण का प्रयत्न हिन्दी उपन्यास–साहित्य में बहुत अधिक व्यापक पैमाने पर चलता रहा और अपनी तमाम असफलताओं तथा असमर्थताओं के बावजूद लेखक वर्ग अपने अति उत्साह के साथ प्रयत्न में लगा रहा। ''हिन्दी उपन्यास के तीसरे चरण में आस्थाहीन, बौद्धिकता का जो व्यापक प्रचार हुआ, जिसके परिणामस्वरूप कुण्ठाओं से विक्षुब्ध होकर उस युग के उपन्यासकारों ने समस्त पारम्परिक मूल्यों का निषेध किया और नवीन मूल्यों की स्थापना की चेष्टा की।''[4]

समकालीन, समसामयिक और समकालीनता

'समकालीन', 'समसामयिक' और 'समकालीनता' को लेकर हिन्दी साहित्य में विशेष रूप से चर्चाएँ हुई हैं। हिन्दी में 'समकालीन' शब्द के लिए अंग्रेजी का 'कण्टेम्परेरी' शब्द का प्रयोग उचित एंव संगत है, क्योंकि 'कण्टेम्पोरेरी' का अर्थ हैं, 'एक ही समय में रहना या होना।' किन्तु एक विशिष्ट कालखण्ड में रचनाशील या समान वय वाले सभी रचनाकारों को समकालीन ठहराना भ्रामक हो सकता है। क्योंकि समकालीनता की कसोटी बोध है। डॉ. गंगा प्रसाद विमल जिन्होंने सर्वप्रथम सन् 1960 के पश्चात् के साहित्य को 'समकालीन' का अभिदान किया, उनके मतानुसार–

''जिस समकालीन या समकालीनता की चर्चा सन् 1960 के बाद की जा रही है, उसका शब्दार्थ की धारणा से सम्बन्ध नहीं है, अपितु वह जीवन–बोध के आधार पर समानधर्मी रचनाकारों के बोध की समानधर्मिता है। वे समान वय के हो या एक कालखण्ड में रचनाशील हो–ये शर्ते अर्थहीन पड़ जाती है। क्योंकि ये समकालीन शब्द के सामान्य अर्थ से सम्बोधित है। परन्तु 'समकालीन कथा रचना' किसी भी तरह से किन्ही नामों या वर्गों की कथा रचना नहीं है। वह कुछ समान दृष्टि (जीवन दृष्टि) सम्पन्न रचनाओं की सम्मिलित संगति है, जो एक ही धरातल पर जीवन के विचित्र योग, विसंगति, संत्रास, अस्तित्व संकट आदि के यथार्थ भोग की परिणति है।''[5] इसी तथ्य की पुष्टि डॉ. यश गुलाटी के कथन से होती है– ''समकालीनता की मुख्य कसौटी बोध प्रवृत्ति अथवा रचनाशिल्प की समानधर्मिता है, इसमें भी विशेष आग्रह बोध के प्रति है, वह समसामयिक आज का हाल होना चाहिए।''[6] डॉ. नरेन्द्र मोहन समकालीनता की व्याप्ति को इन शब्दों में प्रयुक्त करते हैं। साथ ही ''निसन्देहः समकालीन रचना कालांकित होती है। किन्तु एक विशिष्ट कालखण्ड से जुड़ी होने पर भी इसका अर्थ किसी कालखण्ड में या दौर में व्याप्त स्थितियों और समस्याओं का चित्रण, निरूपण या बयान भर नहीं है, बल्कि उन्हें ऐतिहासिक अर्थ में समझना, उनके मूल स्रोत तक पहुँचना और निर्णय ले सकने का विवेक अर्जित करना है।''[7] अतः स्पष्ट है कि समसामयिक स्थितियों से जुडें हुए आन्तरिक और सामाजिक सन्दर्भो को पहचानते हुए समकालीन वास्तविकता के सघन, जटिल और सूक्ष्य स्तरों में पैठ जाये और उससे उत्यन्न सामाजिक और अस्तित्वगत चेतना को अभिव्यक्त किया जाय। यह कहा जा सकता है कि समकालीनता हमें जीवन के सभी अंगों में सक्रिय होने की तत्परता देती है। अर्थात् किसी भी साहित्यिक प्रव्त्ति या विधा के चरण को पिछले चरण से सर्वथा विच्छिन्न करके नहीं

देखा जा सकता। प्रत्येक अगला चरण पिछले चरण के कारण ही सम्भव होता है। विकास की यही सहज प्रक्रिया है।

तात्पर्य यही हैं कि उपन्यास मानव व्यक्तित्व को उसकी सम्पूर्णता में चित्रित करता है। वस्तुतः कोई भी एक उपन्यास सम्पूर्ण जीवन का चित्रण नहीं कर सकता, वह जीवन के कुछ विशिष्ट तथा चुने हुए अंशों को ही ले सकता है, लेकिन ये चुने अंश खण्डित जीवन का चित्र देखकर समग्र जीवन का ही चित्र उपस्थित करते हैं, क्योकि उनमें परस्पर एकसूत्रता सदैव बनी रहती है । यह एक सूत्रता ही जीवन की समग्रता होती है)

समकालीन उपन्यास साहित्य के अन्तर्गत जिन उपन्यासकारों का गुण और मात्रा के आधार पर विशेष योगदान रहा है। उन उपन्यासकारों के नाम उदाहरण स्वरूप यहाँ गिनाना तो काफी जोखिम भरा है। सूची को चाहे तटस्थता और निष्ठा से बनाया जावें फिर भी कुछ उपन्यासकारों के नाम छूट जाने का खतरा है। किन्तु उन उपन्यासकारों के नामों को निर्दिष्ट करना जरूरी है, जिन्होंने इस दौर में सार्थक लिखा और लिख रहे हैं। इन उपन्यासकारों के नाम इस प्रकार है–यशपाल, रामदरश मिश्र, अमृतलाल नागर, अमृतराय, राजेन्द्र यादव, भैरव प्रसाद गुप्त, हंसराज रहबर, नरेन्द्र देव बर्मा, मन्मथनाथ गुप्त, गिरिराज किशोर, शिवसागर मिश्र, यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र', राही मासूम रजा आदि।

पूँजीवादी सामन्ती व्यवस्था

प्रवृत्तियों क्री दृष्टि से देखे तो सामन्तवाद को अधिकार सम्पन्न विशिष्ट वर्ग का एक ऐसा संगठन मानते हैं जो अपने ऐश्वर्यपूर्ण जीवन के लिए सामान्य जन शोषण करता है। सामन्ती समाज का सामान्य–जन हमेशा उपेक्षित रहा है, उनका सम्पूर्ण श्रम सामन्तों की आकांक्षओं की पूर्ति का माध्यम था। सामन्त वर्ग इन श्रमजीवी वर्ग का शोषण करते, इन पर अत्याचार करते और विद्रोह से भरा असंगठित यह वर्ग अपने जन्मगत संस्कारों और धर्म भीरूता के कारण इन सबको नियति मान कर बर्दाश्त करता रहता। मूक पशु सा यह वर्ग शोषण का जुआ कँधे पर लादे अपने स्वामी वर्ग के लिए उत्पादन करता रहता। विशिष्ट वर्ग में मुख्यतः तीन श्रेणियों के सदस्य आते हैं–पहला, राज्य से सम्बन्धित वर्ग, दूसरा अर्थ सम्पन्न वर्ग तथा तीसरा धर्म से सम्बन्धित वर्ग। चूंकि इन तीनों वर्गों के स्वार्थ और पूर्ति के माध्यम थोड़े–बहुत अन्तर से एक ही है, इसलिए सामान्य प्रवृत्ति और समान स्वार्थ वर्ग में एक समझौता स्वाभाविक ही है।

''सामन्तवाद मूलतः किसी काल विशेष की प्रवृत्ति या वर्ग नहीं है, बल्कि प्रवृत्ति के रूप में जहाँ यह पूँजी संचय का अनिवार्य परिणाम है, वहीं वर्ग के रूप में तथाकथित अभिजात्य वर्गीय व्यक्तियों का वर्गगत स्वार्थ रक्षा के लिए पारस्परिक अनिवार्य अनुबन्ध है।''[8]

''श्री ए.आर देसाई ने पूँजीपति वर्ग को मध्ययुगीन सामन्त वर्ग का नवीन संस्करण कहा है।''[9]

सत्ता में भी मुख्य रूप से दो वर्ग पहुँचे। पहला प्राचीन राजा–महाराजा, जिन्होंने अपनी पूजा और अपनी रियासत की जनता की स्वामीभक्ति और भोलेपन का लाभ उठाया तथा दूसरा वर्ग पूँजीपति वर्ग था, जिसके पास चुनावों में पानी की तरह बहाने के लिए पैसा था, साधन थे। इस तरह सत्ता और अर्थ एक–दूसरे के स्वार्थ के पूरक हो गये। सत्ता प्राप्त व्यक्ति स्वयं को एक निरंकुश सामन्त से कम नहीं समझते। सरकार की नीतियों को पूँजीपति प्रभावित करने लगे और सत्ता का हाथ उसकी पीठ सहलाने लगा।

''एक कमजोर गरीब देश में पावर और पैसे की ऐसी पूजा निकृष्ट नव सामन्ती समाज की ही संरचना कर सकती है। ऐसा समाज हमारे चारों तेजी से वन रहा है, इसमें सामन्ती व्यवस्था का हर तेवर है, बस गरिमा नहीं है।''[10]

श्री शिवसागर मिश्र ने अपने उपन्यास 'जनमेजय बचो' में भारतीय समाज की उस 'सड़ी–गली सामन्तवादी' व्यवस्था की ओर ध्यान दिलवाया है, जो आज भी उसे 'तक्षक' की तरह बुरी तरह से जकड़े हुए है तथा इनके शिकंजे से

बचकर निकलने के सभी प्रयास असफल होते जा रहे हैं,

लक्ष्मीकान्त दूरदर्शी पात्र हैं वे आगत भविष्य को देखते हुए अपने वर्ग के सन्दर्भ में अपनी दादी से कहते हैं– 'बात यह है दादी जमाना बदल रहा हैं जमींदारी प्रथा खत्म की जा चुकी है । अब जोत की जमीन भी किसी के पास एक सीमा से अधिक नहीं रहेगी । पिछडे हुए लोगों और हरिजनों की अधिकार भावना उग्र से उग्रतर बल्कि उग्रतम होती जा रही है। कुछ पता नहीं जमीन जायदाद वालों का भविष्य क्या होगा। इसलिए अच्छा है कि हम लोगों के वर्ग के लोग राजनीति में सक्रिया हिस्सा लेकर आगे आये, और सत्ता राजनीति में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करें।''[11]

रामदरश मिश्र के उपन्यास 'जल टूटता हुआ' का जमींदार पात्र महीप सिह ऐसा पात्र है, 'कौन नहीं जानता महीप सिंह को ? इस इलाके के जमींदार, ब्रिटिश सरकार के पक्के हिमायती, प्रजा के बड़े दुश्मन, अपनी झक के अंधे, कौन नहीं जानता उन्हें ? जनता सोचती थी कि आजादी मिलने पर इन देशद्रोहियों को फाँसी मिलेगी, इनकी जमीन गरीबों को बाँट दी जायेगी, मगर इन वर्षों में कुछ और ही तस्वीर सामने आई थी। बाबूमहीप सिंह काँग्रेस के मेम्बर हो गये, नेताओं की निगाह में कॉग्रेस के प्रिय व्यक्ति।

पहले ब्रिटिश सरकार को फलों को डालियाँ भेजते थे, अब आजादी के दिन स्कूल के बच्चों के बहाने काँग्रेस सरकार को लड्डू की डालियाँ भेजते हैं।''[12]

स्वतंत्रता आन्दोलन के काल से ही पूँजीपति वर्ग राजनीति में शामिल होने लगा था, तथा लोकतंत्र की चुनावी पद्धति के परिणाम स्वरूप भारतीय राजनीति अर्थ–आश्रित हो गयी। चूँकि देश में समाजवादी व्यवस्था की घोषणा की गयी, इससे पूँजीपति वर्ग में थोडी–सी बैचेनी होना स्वाभाविक था। इसलिए सबसे अच्छा माध्यम यही था कि या तो वे स्वयं नीति–निर्धारक बन जाये या अप्रत्यक्ष रूप से नीतियों का निर्धारण करे।

धन की शक्ति' की अनिवार्यता और इस वर्ग के पास इसकी उपस्थिति ने इनके रास्ते को आसान कर दिया।

अमृतलाल नागर ने 'अमृत और विष' में कहा है–डिमोक्रेसी युग का सम्राट होता है बनिया।''[13] उपन्यासकार के रचनात्मक व्यक्तित्व का प्रतिरूप अरविन्द शंकर अपने आस–पास की राजनैतिक एवं सामाजिक व्यवस्था से असन्तुष्ट हैं, क्योंकि डर लगता है कि देश का नेतृत्व फिर से प्रतिक्रियावादी शक्ति के हाथों में आ गया है। उपन्यासकार वर्तमान नेतृत्त्व कर्ताओं के पुराने स्वरूप के सम्बन्ध में कहता है– 'शातिरों, डाकुओं के कई गिरोह मिलकर एक बड़ा गिरोह बन गया। गाँव की मण्डिया दूर–दूर तक लूटी, फिर एक नयी आढ़त संस्था जनमी, जिसमें अनेक पुराने ताल्लुकेदारों के वे वंशधर लोग थे, जो डाकू दलों के अर्थ सहायक बन कर लूट का मुनाफा खाते थे। खोखा (एक व्यवसायी) ने क्रमशः व्यवसाय के प्राचीन तन्त्र को छिन्न–भिन्न करके फिर से नयी व्यवस्था दी। डाकू सफेदपोश बन कर गाँव की सरपंचों और तरह–तरह नेताई मोर्चे सम्भालने लगे।''[14] आजादी के पूर्व से हो इस वर्ग ने अपने भविष्य की कल्पना कर ली थी, और वह सतर्क हो गया था।

रांगेय राघव का उपन्यास 'हुजूर' का सेठ मटरूमल अंग्रेजों की खुशामद करने वाला पूँजीपति है। जब उसकी मिल में हड़ताल होती है तो वह गोली चलवाता है। यह 'सेठ लडाई के लिए चन्दा खूब देता था और दूसरी तरफ कॉग्रेस को भी खूब चन्दा देता था। दोनों घोड़ों पर इस सहूलियत से चढ़ता था कि पता ही न चलता था, इसका राज यह था कि अंग्रेजी घोड़ों की दुलत्ती से बचता था और काँग्रेसी घोड़ों के मुँह में घास भरता था।''[15]

आजादी के बाद यही सेठ मटरूमल काँग्रेसी नेता बनता है इस प्रकार अधिकांश पूँजीपतियों ने राजनीति में प्रवेश कर अपने विशेषाधिकार को बनाये रखा पूँजीपतियों का एक वर्ग ऐसा भी था, जिन्होंने राजनीति में प्रवेश न करके

स्वयं को केवल अर्थोपार्जन तक सीमित रखा, और धन की शक्ति के ही माध्यम से अपने स्तर को कायम रखने में कामयाब हुए । इसके दो कारण थे। पहला तो यह कि इनके पास राजनेतिक सत्ता 'गठबन्धन' के माध्यम से आ जाती थी दूसरा यह कि यही वर्ग सत्ता में पहुँच चुका था, इसलिए अपने स्वार्थ के बारे में ये निश्चिन्त थे।

जहाज का पंछी' के भादुडी साहब पूँजीपति है किन्तु वे राजनीति में नहीं जाना चाहते–बड़े भादुडी महाशय कलकत्ते के बड़े नामी और प्रभावशाली व्यक्ति है। सभी मिनिस्टर उन्हें बहुत मानते हैं। उनसे कई बार विशेष विभाग का मंत्रित्व स्वीकार करने को प्रार्थना की जा चुकी है, पर वह मंत्री बनने में कोई विशेष लाभ नहीं देखते। व्यावसायिक वृद्धि प्रतिवर्ष बड़ी तेजी से होती चली जा रही है। मिनिस्टर बनने से उनका कार्य क्षेत्र बँध जायेगा और आमदनी अच्छी होने पर भी उस हद तक नहीं हो पायेगी।

अधिकार की भावना ने अहंकार को जन्म दिया और अहंकार ने अत्याचार को। 'अमृत और विष' के पुराने जमींदार लाल साहब कहते हैं–''ये कॉंग्रेस वाले अंग्रेजी राज में हम रईसों–ताल्लुकेदारों के रहन–सहन और चाल–चलन पर कैसी गालियाँ दिया करते थे और अब (हँसी) हमसे भी बढ़कर ऐश पसन्द हो गये हैं। यही जिन्दगी का लुफ्त है। कल हमारा जमाना था, आज उनका है।''[17]

भूतपूर्व सामन्तों और वर्तमान पूँजीपतियों का यह वर्ग आरम्भ से ही भोगवादी रहा, इसलिए इनके सामन्त होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता किन्तु अन्य वे व्यक्ति जो राजनीति में किसी कारणों से पहुँचे, वे भी इनकी संगत के असर से अछूते नहीं रह सके। यह वर्ग अपनी कुछ विशिष्टताओं के कारण राजनीति में पहुँचा जैसे–सम्प्रदाय का प्रधान, सुरक्षित निर्वाचन क्षेत्रों के सदस्य, गुण्डागर्दी का आतंक, खुशामदी पसन्द व्यक्तित्व आदि।

उपन्यास ''परती परिकथा' का समसुद्दीन मुसलमान टोली का मुखिया था, जो स्वराज्य मिलने से पाँच दिन पहले तक कव्वाली गाया करता था, किन्तु आजादी के बाद' तीसरे ही दिन मीर समसुद्दीन कॉंग्रेसी हो गया। थाना कमेटी का मेम्बर है, वह।''[18]

राही मासूम रजा का उपन्यास 'आधा गाँव' का परूषराम जाति का चमार है, जो अब एम.एल.ए. हो गया है। अब समाज में उसकी इज्जत बढ़ गयी है। फुस्सु मियाँ द्वारा उसके धन का राज पूछे जाने पर अब्बूमियाँ जवाब देते हैं। अरे भाई वह एम.एल.ए. उसे पैसों की क्या कमी और चीफ मिनिस्टर उसको बहुत मानते हैं।''[19] इसी तरह लठैत फुन्नन मियाँ की स्थिति देखिये– 'पाकिस्तान के बनने से उनकी जिन्दगी में कोई खास तब्दीली नहीं हुई। जिन्दगी कुछ बेहतर हो गयी थी। वह परूषराम, एम.एल.ए. की नाक के बाल थे। अब थानेदार कासिमवाद उनको खुशामद किया करता था एक बार तो उन्होंने उसका तबादला रुकवाने का वादा करके तीन सौ रुपये ऐठें भी थे।''[20]

ठीक इसी तरह उपन्यास 'जल टूटता हुआ' के काली प्रसाद पाण्डे हैं, जो सिंहपुर खिंत्ते के एम.एल.ए. हैं। ये–''पहले होमियोपैथी डॉक्टर थे। डॉक्टरी नहीं चली तो स्वाधीनता संग्राम में शामिल हो गये। फटेहाल फिरते रहे और अब एम.एल.ए. हैं। गौरखपुर में दो–दो कोठियाँ बनवा ली है। घर के पास की बहुत बड़ी जमीन को (जो एक दूसरे आदमी की थी) कब्जे में कर लिया है। राजनीति पीड़ितों के नाम पर तराई में चालीस–पचास एकड़ जमीन प्राप्त कर ली है।''[21]

यशपाल के 'झूठा सच' का पात्र जयदेव पुरी आरम्भ में कर्तव्यपरायण, न्यायी और ईमानदार पात्र है। किन्तु एक नेता सूदजी के सम्पर्क में आते ही वह स्वार्थी और घोर प्रतिक्रियावादी हो जाता है । अब उसके पास पैसा है, उसकी पीठ पर सत्ता का हाथ है, और वह मुकेरिया क्षेत्र से विधान सभा के चुनाव के लिए खडा भी होता है, और विजयी होता है । गिल, पुरी की पत्नी कनक से उसके परिवर्तित सिद्धान्तों के विषय में कहता है– 'उसे अब परिवर्तन और न्याय की नयी

धारणाओं की आवश्यकता नहीं जान पड़ती।''[22]

ये विधानसभा के मेम्बर एवं मंत्री नव सामन्त हैं, जो भ्रष्टाचार के नये–नये क्षेत्रों का उद्घाटन करते हैं । उपन्यासकार यह तथ्य प्रस्तुत करने में नहीं हिचकता कि विधायकगण भी भ्रष्टाचार में आकंठ डूबे हैं।''[23]

'राग दरबारी' के वैद्यजी शिवपाल गंज के भाग्य विधाता हैं। वैद्यजी स्वतन्त्रत्ता प्राप्ति के बाद के नवोदित सामन्त है। श्री ईश्वर दयाल गुप्त के शब्दों में–''वैद्यजी उस व्यवस्था की देन है, जिसे सामन्ती कहा जाता है, जो भारत में इसलिए समाप्त नहीं हुई, क्योकि पूँजीवाद का क्रमिक विकास नहीं हुआ, क्योकिं आजादी और जनतन्त्र आकस्मिक घटनाएँ रही। इस सामन्ती पद्धति का चरम रूप गुटबन्दी हैं।''[24] राजनैतिक भ्रष्टाचार के कारण जीवन के सभी क्षेत्रों में गन्दगी फैली। अफसर वर्ग पर किसी नैतिक शक्ति का अंकुश न होने के कारण यह वर्ग भी सामन्ती कारिन्दौ की तरह सामन्त हो गया। वस्तुतः वर्तमान अफसरशाही भूतपूर्व सामन्तशाही का सरकारी संस्करण ही हैं। 'राग दरबारी' मैं पुलिस वर्ग के विषय में लेखक कहता है– 'मध्यकाल का कोई सिंहासन रहा होगा, जो अब घिस कर आराम कुर्सी बन गया था। दरोगाजी उस पर बैठे भी थे, लेटे भी थे।[25] उपन्यास कभी न छोडे खेत' में एक कत्ल की जॉंच के लिए थानेदार गॉंव आता है। हर व्यक्ति उसकी कृपा दृष्टि के लिए तरस रहा है। स्वागत की तैयारी से लगता है, मानो कोई महाराजा आ रहा हो। लेखक कहता है– 'मंगलू थानेदार की घोड़ी पर काठी कसकर उसको लगाम पकडे यूँ चल रहा है, जैसे किसी महारानी की अगवानी कर रहा हो।''[26]

रांगेय राघव के उपन्यास 'हुजूर' का 'मैं' अफसर वर्ग के बारे मैं सोचता है– ''वहाँ यम नहीं रहता, यमदूत रहते हैं,' जो नरक का संचालन करते हैं, सिपाही, थानेदार, देसी अफसर।'' 'आधा गाँव'' के थानेदार ठाकुर हरनारायन सिंह ने अपनी नौकरी की बदौलत– ''थोडी सी जमींदारी बना ली है, सौ बीघे की खुद काश्त भी कर ली है।''[27]

'जल टूटता हुआ' उपन्यास के गाँव में चकबन्दी हो रही है, जिसके लिए भूपेन्द्र लाल एसीओ. होकर आये है, और जमींदार बाबूमहीप सिंह की छावनी में ठहरे हुए हैं। ये अच्दी खासी रिश्वत लेते हैं, और लोगों का दरबार उनके दरवाजे पर लगा रहता है, और लोग साहब के पीछे–पीछे लगे रहते हैं।''[28]

'लोग' के नीलमणि कान्त व चतरसिंह ऐसे ही मौकापरस्त जमींदार है, जो बदलते समय में पूँजी के कारण अपने प्रभुत्व को बनाये रखना जानते हैं। इनका ध्येय येन–केन–प्रकारेण पूँजी कमाना व अपना प्रभुत्व बनाये रखना है, जिसके लिए ये कॉंग्रेस में शामिल हो जाते हैं। समय के साथ चलते हुए नीलमणिकान्त कार खरीद लेते हैं, अपना पुराना स्वरूप (जमींदार) उतार कर नया (पूँजीपति) रूप धारण कर लते हैं, क्योंकि उन्हें पता है कि अगर वे भी यशवन्त रॉय की तरह अड़े रहे तो उनका नामोनिशान मिट जाएगा। वे जानते हैं कि उभरती हुई कॉंग्रेस पार्टी उन्हें एक नया नाम व नयी पहचान देगी।

क्योंकि यह वर्ग इस बात को जानता है कि– ''सामन्ती व्यवस्था और तानाशाही में ही नहीं लोकतंत्र में भी सत्ता बहुत बड़ी चीज है। लोक के प्रतीकात्मक पूजन के बाद तन्त्र का भोग ही बचा रहता है, इसलिए पावर के पारखी इस बात को मानने को विवश होते हैं कि सबसे बड़ी शक्ति राजनीति की है, सबसे बड़ा पव्वा राजनीति बाजी का है।''[29]

यही कारण है कि हर व्यक्ति उच्च राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति की आकांक्षा से ग्रस्त है एवं आकांक्षा पूर्ति के लिए वह जोड़–तोड़ में लगा हुआ है, सत्ता प्राप्त व्यक्ति अपने को निरकुंश सामन्त से कम नहीं समझता।

'जुगलबन्दी''' में भी गिरिराज किशोर ने आज के भारत की जिन्दगी स्वाधीनता आन्दोलन की छाया में उसकी

सम्पूर्णता के साथ चित्रित की है। 'जुगलबन्दी' के राजकुमार जो केवल नाम के ही राजकुमार नहीं हैं उन्हें सारे ऐशो आराम राजकुमारों वालें ही चाहिए। ये वे अवसरवादी लोग हैं जो आजादी की लड़ाई में सुविधाएँ एवं सहूलियत पाने के लिए कूदे थे। निजी स्वार्थों की राजनीति की छाया में ये लोग निजी लाभ के लिए ही देश की सेवा का ढोंग करते रहे ऊपर से ये कहना इनके व्यक्तित्व के दल प्रपंच को उजागर ही करता है राजकुमार– ''देश की सेवा के साथ अपनी सेवा भी तो जरूरी है देश की सेवा इसलिए कर रहे हैं, ताकि बाद में अपनी सेवा हो।''[30]

निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि पुरानी सामन्ती प्रवृत्तियाँ नये रूपों में सामने आयी जिनका मुख्य ध्येय पूँजी ही था। अपनी पूँजी को बनाये रखने के लिए प्रभुत्व के साथ सत्ता के मेल ने इनके स्वार्थों को और हवा दी, व चाहे 'जुगलबन्दी' के चतर सिंह या राजकुमार हो 'ढाई घर' के जगन बाबू या फिर 'लोग' के नीलमणि कान्त, कुँवर किशोरीरमण हो। अभिजात्य वर्ग ने अपनी स्वार्थ पूर्ति का माध्यम खोज ही लिया। सभी पूँजीवादी दर्शन से आक्रान्त है, और ये उच्च वर्ग अपनी स्थिति को बनाये रखने के लिए प्रयासरत भी है।

इस संक्षिप्त विवेचना का आशय मात्र यह दिखाना था कि आज का अफसर शाही वर्ग सामन्ती कारिंदा वर्ग का प्रतिनिधित्व कर रहा है, जिस उपन्यास में भी पूँजीवादी सामन्त वर्ग आया है, वही उनके चरित्र का नैतिक पतन दिखायी पड़ता है। रिश्वतखोरी, शोषण, अत्याचार, अहम, भोग आदि वे बिन्दू हैं, जो इस वर्ग के चरित्र का निर्माण करते हैं। जो आज भी समाज में पूर्ण रूप से व्याप्त है।

***व्याख्याताहिन्दी विभाग**
एस.एस.जैन सुबोध, पी.जी. कॉलेज
रामबाग सर्किल, जयपुर

सन्दर्भ सूची

1. डॉ. सुरेश गुप्ता : उपन्यासकार प्रेमचन्द, पृ. 32
2. विजय अग्रवाल : स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में सामन्ती जीवन, पृ. 96
3. डॉ. धनंजय : समकालीन हिन्दी कहानी– दिशा और दृष्टि (भूमिका)
4. डॉ. डॉली लाल : समकानीन हिन्दी उपन्यास, पृ. 65
5. डॉ. धनंजय : वही पृ. 166
6. डॉ. यश गुलाटी : समकालीन कविता की भूमिका, पृ. 17
7. डॉ.नरेन्द्र मोहन : समकालीन कहानी की पहचान (प्रस्तावना) पृ. 7
8. विजय अग्रवाल : स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में सामन्ती जीवन, पृ. 92
9. ए.आर. देसाई : सोशल बैक ग्राउण्ड ऑफ इण्डिया नेशनलिज्म,पृ. 61
10. साप्ताहिक हिन्दुस्तान : सम्पादकीय अंक, 30 जून, 1974
11. शिव सागर मिश्र : जनमेजय बचो, पृ. 202
12. रामदरश मिश्र : जल टूटता हुआ, पृ. 7
13. अमृतलाल नागर, अमृत और विष,पृ. 546
14. वही,
15. रांगेय राघव : हुजूर, पृ. 60
16. दूलाचन्द्र जोश : जहाज का पंछी,पृ. 166–167
17. अमृत लाल नागर : अमृत और विष, पृ. 286
18. फणीश्वर नाथ रेणु : परती परिकथा, पृ. 40
19. राही मासूम रजा : आधा गाँव, पृ. 324
20. वही,
21. रामदरश मिश्र : जल टूटता हुआ, पृ. 293
22. यशपाल : झूठा–सच, पृ. 358
23. डॉ. ब्रजभूषण सिंह आदर्श : हिन्दी के राजनैतिक उपन्यासों का अनुशीलन, पृ. 221
24. ईश्वर लाल गुप्त : आधुनिक साहित्य, विविध परिदृश्य शीर्षक – व्यंग्य राग का विलम्बित आलाप पृ. 197
25. श्री लाल शुल्क : राग दरबारी, पृ. 14
26. जगदीचन्द्र : कभी न छोड़े खेत, पृ. 51
27. रांगेय राघव : हुजूर, पृ. 10
28. रामदरश मिश्र : जल टूटता हुआ, पृ. 306
29. मनोहर श्याम जोशी : साप्ताहिक हिन्दुस्तान, अंक 30 जून, 1974
30. गिरिराज किशोर, जुगलबंदी, पृ. 163